RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-04
Issue-06
June-2019

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com[UGC Listed Journal]

साहित्य, समाज और सामाजिक यथार्थ : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ रेखा रानी

पी–एच0डी0, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार (भारत)

ARTICLE DETAILS

Article History
Published Online: 12 June 2019

Keywords
साहित्य, यथार्थ, समाज, सामाजिक यथार्थ, समाजवादी यथार्थ, मनोवैज्ञानिक यथार्थ।

***Corresponding Author**
Email: rrani140489[at]gmail.com

ABSTRACT

मानव की संकल्पात्मक अनुभुतियों के संचित भण्डार का नाम साहित्य है। साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। एक ओर साहित्य का हित और सहित भाव समाज के लिए कल्याणकारी होता है, वही समाज का पारम्परिक आचरण साहित्य को शास्त्र की गरिमा प्रदान करता है। समाज साहित्य की प्रारंभिक सामग्री है और साहित्य समाज की सामग्री से निर्मित एक कलात्मक कृति है, समाज साहित्य का बीज है और साहित्य समाज रूपी बीज से विकसित वट–वृक्ष है, समाज विधि प्रकार के जलकणों का बिखरा हुआ स्वरूप है और साहित्य उन जलकणों से निर्मित विशाल सागर है। यही कारण है कि साहित्य के निर्माण में समाज का सर्वाधिक योग रहता है। सामाजिक जीवन एवं सामाजिक यथार्थ की विविध स्थितियों एवं परिस्थितियों को चित्रित करना ही साहित्य का एकमात्र कार्य है। साहित्य में सामाजिक यथार्थ समाज जैसा भी है, उसके वैसे ही चित्रण पर बल देता है। वहीं, समाजवादी यथार्थ कल्पना और आदर्श से परे ठोस और व्यावहारिक सत्य को ग्रहण करने तथा मनोवैज्ञानिक यथार्थ अचेतन मन में दमित भावनाओं एवं मन में चलने वाले द्वन्द्वात्मक और रहस्यात्मक अनुभूतियों के यथार्थ चित्रण पर बल देता है।

प्रस्तावना :

समाज का मूर्त्त रूप ही साहित्य है और उसका दर्शन ही यथार्थ है। समाज की बहुरंगी आयाम को समेट एक माला में पिरोने हेतु साहित्य की आवश्यकत होती है और उस माला की डोरी ही यथार्थ है। यही कारण है कि साहित्य के निर्माण में समाज का सर्वाधिक योग रहता है। सामाजिक जीवन एवं सामाजिक यथार्थ की विविध स्थितियों एवं परिस्थितियों को चित्रित करना ही साहित्य का एकमात्र कार्य है। साहित्य में सामाजिक यथार्थ समाज जैसा भी है, उसके वैसे ही चित्रण पर बल देता है। समाज में घटित होने वाली प्रत्येक घटना साहित्य के माध्यम से साकार रूप धारण करती है। समाज के उतार–चढ़ाव का सच्चा रूप रचनाकार अपनी रचनाओं के द्वारा समाज के सम्मुख रखने का प्रयास करता है। इस तरह साहित्य को समाज का दर्पण माना गया है।

'सहित्स्य भावः साहित्यम्' के अनुसार सहित के भाव को साहित्य कहा जाता है। यहाँ 'सहित' शब्द विचारणीय है। सहित' का एक तो अर्थ होता है अर्थात् साहित्य में सम्पूर्ण विद्या, समस्त कला, सम्पूर्ण ज्ञान एवं सम्पूर्ण शास्त्रों का समावेश होता है, क्योंकि साहित्य सभी को अपने साथ लेकर चलता है। इसके अतिरिक्त 'स–हित' का अर्थ है हित सहित अर्थात् साहित्य हित को लेकर चलता है, साहित्य में हित या कल्याण करने की सामर्थ्य होती है और वह मानव को प्रेय की अपेक्षा श्रेय की ओर अग्रसर करने में अधिक सहायक होता है।[1] साहित्य की उक्त दोनों व्युत्पत्तिपरक व्याख्याओं से यह स्पष्ट है कि जो सम्पूर्ण शास्त्रों का अपनी खाद्य सामग्री के रूप में उपयोग करता है, जो समस्त विद्याओं को अपना वर्ण्य विषय बनाता है, जो समस्त कलाओं को अपनी सहकारी समझकर गले लगाता है, जो सम्पूर्ण ज्ञान–विज्ञान को अपना प्रतिपाद्य समझता है, जो समस्त जीवन एवं जगत् को अपनी क्रीड़ी–स्थली समझता है और जो अखिल ब्रह्माण्ड को अपनी अनुभूति का मूलाधार समझता है उसे साहित्य कहते हैं। इतना ही नहीं 'हितेन सहितम्' के आधार पर साहित्य वह है, जो लोकमंगलकारी हो, जो श्रेयस्कर हो, जो अमंगलों का विनाश करके मंगल प्रदान करने वाला हो, जो चिर–दग्ध–दुःखी वसुधा को शन्ति एवं सुख प्राप्त कराने में सहायक हो और जो अखण्ड आनन्द का विधायक हो। साहित्य की ये व्याख्यायें जहाँ एक ओर साहित्य के महत्त्व का प्रतिपादन करती हैं, वहाँ दूसरी ओर साहित्य ने शब्द और अर्थ के माध्यम से ही उपलब्धियों की ओर भी स्पष्ट संकेत करती हैं। साहित्य ने शब्द और अर्थ के माध्यम से ही उक्त सम्पूर्ण वैशिष्ट्य को प्राप्त किया है और साहित्य में पार्वती–परमेश्वर की तरह अथवा जल और लहर की तरह शब्द और अर्थ सदैव अभिन्न एवं अविभाज्य रहते हैं। इसी कारण शब्द और अर्थ के अभेद सम्बन्ध को साहित्य कहा सकते हैं। परन्तु साहित्य एक भाव–समष्टि का नाम है, क्योंकि जैसे जीवन कहने से समस्त प्राणियों के समष्टिगत जीवन का बोध होता है, वैसे ही साहित्य कहने एक भाव–समष्टि या विचार–समष्टि का ही बोध होता है। वन–प्रदेश की भाँति साहित्य को जानने के लिए भी हमें उसके विविध रूपों से अवगत होना पड़ेगा। जैसे वन या जीवन कोई मूर्त्त पदार्थ नहीं है, वैसे ही साहित्य भी मूर्त्त न होकर सर्वथा अमूर्त्त एवं अरूप होता है। इसकी विविध विधाओं की समष्टि साहित्य कहलाती है और इसकी वे विविध विधायें हैं–नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी, आलोचना,

RRIJM 2015, All Rights Reserved

निबन्ध जीवनी, रेखाचित्र, संस्मरण आदि। साहित्य का अभीष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी उक्त विधाओं से परिचित होना परमावश्यक होता है और इन व्यष्टिगत विधाओं से यथाशक्ति परिचित होनक इनमें तन्मय होने पर ही साहित्य के अभीष्ट फल–अखण्ड आनन्द को प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार विविध विधाओं की समष्टि का नाम साहित्य है, उसी प्रकार विविध व्यष्टिगत सत्ता का बोध होता है। इस दृष्टि से जब 'समाज' पर विचार किया जाता है, तब ज्ञात होता है कि समाज प्राणियों के उस समूह को कहते हैं, जिसमें वे एकत्र होकर रहते है, खाते–पीते हैं, जीवन–यान की सुख–सुविधाओं की उपलब्धि का प्रयास करते हैं तथा राग–द्वेष में लीन होकर अपनी–अपनी वैयक्तिक एवं सामूहिक सत्ता को बनाये रखने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। अतः संघर्ष–रत जीवन–समष्टि का ही नाम समाज है। समाज में यद्यपि व्यष्टिगत प्रयत्नों एवं प्रयासों को ही महत्त्व दिया जाता है, तथापि जब वे व्यष्टिगत प्रयत्न सामूहिक दृष्टि से जोर पकड़ लेते हैं तथा उनमें वैयक्तिक चेतना सामूहिक चेतना में परिणत हो जाती है, तब उन प्रयत्नों एवं प्रयासों को सामाजिक प्रयत्न या सामाजिक प्रगति का नाम दे दिया जाता है। इसका कारण यह है कि जैसे एक–बूँद के सम्मिश्रण से सागर का निर्माण होता है, वैसे ही एक–एक व्यक्ति या एक–एक प्राणी से समाज निर्मित होता है और जिस तरह सागर बूँद–समष्टि का नाम है, उसी तरह व्यक्ति–समष्टि का नाम है, उसी तरह क्यक्ति–समष्टि को समाज कहते हैं। इसीलिए समाज कहने से व्यक्तियों के एक समूह का बोध होता है, प्राणियों के एक समूह की प्रतीति होती है। और जीवधारियों के एकत्र रहन–सहन, आचार–विचार, क्रिया – प्रतिक्रिया, उपलब्धि – अनुपलब्धि, ज्ञान–अज्ञान आदि की जानकारी होती हैं। परन्तु आजकल समाज का इतना व्यापक अर्थ नहीं लिया जाता। अब तो 'समाज' से अभिप्राय केवल व्यक्तियों के समूह से ही है अर्थात् जहाँ अधिकांश व्यक्ति एकत्र जीवन–यापन करते हैं, विविध प्रकार के जीवनोपयोगी कार्यों में संलग्न रहते हैं, विविध प्रकार की उत्रति के लिए सामूहिक एवं वैयक्तिक रूप से प्रयत्न करते हैं तथा विविध प्रकार की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं आर्थिक प्रगति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं उसी को 'समाज' कहते हैं। पहले विश्व विविध भागों में विभाजित था और प्रत्येक भाग पृथक् एवं असम्बद्ध था। परन्तु विज्ञान ने आज न केवल समय की दूरी कम की है, अपितु स्थान की दूरी भी पूर्णतया कम कर दी है और विश्व के सभी भागों को परस्पर सम्बद्ध कर दिया है। इसलिए आज किसी एक भू–भाग के समाज की चर्चा नहीं की जाती, अपितु विश्व भर के मानवों का एक समाज माना जाता है और 'समाज' कहने ने सम्पूर्ण मानव–समाज का बोध होता हैं। इस प्रकार समाज के अभिप्राय मानवों के उस समूह से है, जो इस भू–मण्डर पर निवास करता है, जो पारस्परिक राग–द्वेष से आबद्ध होकर भी अपनी वैयक्तिक एवं सामूहिक प्रगति के लिए प्रयास करता है, जो विविध प्रकार के ज्ञान–विज्ञान से समृद्ध होकर अपनी भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति में संलग्न रहा है, जो अधिकाधिक शक्तियों का संचय करके अपने अस्तित्व की रक्षा में तल्लीन रहता है तथा जो विविध साधन–सामग्री जुटाकर प्रकृति से संघर्ष करता हुआ अपनी सत्ता को सर्वोपरि सिद्ध करने में दत्तचित रहा आता है।[2]

''साहित्य नव निर्माण तथा पुनर्निमाण दोनों करता है। नियामक और निर्णायक दोनों भूमिकाओं में यह जीता है। इसमें मनोभावों का प्राधान्य होने से इसका वास्तविक स्वरूप वैश्विक हो जाता है। यह सही है, साहित्य आदेशात्मक या दण्डात्मक भूमिका तो नही निर्वाहित करता, परन्तु इसकी प्रभावात्मक क्षमता प्रच्छन्न एवं परोक्ष रूप से सर्वाधिक प्रबल होती है। मानव मन को इस तरह प्रभावित करता है कि वह तत्काल उस अनुरूप जीवन ढ़ालने को कटिबद्ध हो जाता है। साहित्य की प्रकृति वास्तव में उस शमी वृक्ष की भांति होती है, जो बाहर तो शीतल होती, परन्तु भीतर आग्नेय क्रान्ति का बड़वानल छिपाये होती है। इसकी प्रेरणा क्षणिक या सीमित नही होकर सार्वभौम और सार्वकालिक होती है।''[3]

भारतीय साहित्य संकुचितता का नही, पूरी मानवता का साहित्य है। एक देश का नही, पूरे विश्व का साहित्य है। यह बन्धन का नही, मुक्ति का साहित्य है। घृणा का नही, आत्मीयता का साहित्य है। साहित्य में ही समाज निर्माण की शक्ति होती है। कोई भी विचार शब्द में बंधकर भी स्थाई होता है। पीढ़ियों तक पंहुचता है। भावी पीढ़ी विगत की श्रेष्ठताओं के प्रकाश में अपना मार्ग बनाती है। यह निरंतरता ही उसे परम्परा का आकार देती है। श्रेष्ठता संस्कृति का अधिष्ठान बनती है। संस्कृति, साहित्य के अभाव में स्मृति के बियाबान में खो जाती है। कभी कभी विनष्ट भी हो जाती है। जिस देश का साहित्य नष्ट हो जाता है, उसकी संस्कृति स्वतः नष्ट हो जाती है। साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। एक ओर साहित्य का हित और सहित भाव समाज के लिए कल्याणकारी होता है, वही समाज का पारम्परिक आचरण साहित्य को शास्त्र की गरिमा प्रदान करता है। साहित्य को तात्कालिक सामाजिक संक्रमण प्रभावित तो करते हैं, परन्तु सर्जक जो समय और शास्त्र दोनों का ज्ञाता और दृष्टा होता है, वह हंस के नीर क्षीर विवेक की भांति सांस्कृतिक एवं असांस्कृतिक में से सांस्कृतिक को चुनता है और शब्द के बल पर समाज को देता है।

साहित्य को मंमलमय एवं श्रेयस्कर बनाने में समाज का ही योगदान रहता है, क्योंकि साहित्य समाज से उन मंगलकारी तत्त्वों को ग्रहण करके जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया करता है, जो समाज को सत्य–मार्ग पर अग्रसर करने में सहायक होते हैं, समाज से वह उन व्यावहारिक बातों को

लेकर जनता के सामने प्रदर्शित किया करता है, जिनके अध्ययन एवं अनुशीलन से समाज सुख–समृद्धि की ओर कदम बढ़ा सकता है। समाज साहित्य की प्ररम्भिक सामग्री है और साहित्य समाज की सामग्री से निर्मित एक कलात्मक कृति है, समाज साहित्य का बीज है और साहित्य समाज रूपी बीज से विकसित वट–वृक्ष है, समाज विधि प्रकार के जलकणों का बिखरा हुआ स्वरूप है और साहित्य उन जलकणों से निर्मित विशाल सागर है। यही कारण है कि साहित्य के निर्माण में समाज का सर्वाधिक योग रहता है।

साहित्य में सामाजिक यथार्थ समाज जैसा भी है, उसके वैसे ही चित्रण पर बल देता है। वहीं, समाजवादी यथार्थ कल्पना और आदर्श से परे ठोस और व्यावहारिक सत्य को ग्रहण करने तथा मनोवैज्ञानिक यथार्थ अचेतन मन में दमित भावनाओं एवं मन में चलने वाले द्वन्द्वात्मक और रहस्यात्मक अनुभूतियों के यथार्थ चित्रण पर बल देता है।

सामाजिक यथार्थ : सामाजिक यथार्थ से तात्पर्य मनुष्य द्वारा की गई सामान्य क्रियाओं के सच्चे चित्रण से हैं। ''ज्ञान शब्दकोश' में सामाजिक शब्द का अर्थ– 'समाज संबंधी', 'समाज में पाये जाने वाला' आदि से लिया गया है। इसी शब्दकोश में 'यथार्थ' का अर्थ– 'सत्य प्रकट', 'उचित' आदि लिया गया है।''[4] इस प्रकार दोनों के अर्थों को सम्मिलित कर दे तो 'सामाजिक यथार्थ' से अभिप्राय होगा– समाज में घटित होने वाली सच्ची घटनाओं का यथार्थ चित्रण। समाज में घटित होने वाली प्रत्येक घटना साहित्य के माध्यम से साकार रूप धारण करती है। समाज के उतार–चढ़ाव का सच्चा रूप रचनाकार अपनी रचनाओं के द्वारा समाज के सम्मुख रखने का प्रयास करता है। इस तरह साहित्य को समाज का दर्पण माना गया है।

समाजिक यथार्थवाद का सहज शब्दगत अर्थ यही है कि समाज जैसा भी हो, वैसा ही उसका चित्रण किया जाए। सामाजिक यथार्थवाद के संबंध में डा0 त्रिभुवन सिंह जी का भी यही मानना है। वे लिखते हैः– ''समाज की वास्वतिक अवस्था में किसी भी वस्तु का तद्धत चित्र उतार देना श्रेष्ठ साहित्य के लिए हानिकारक होता है। साहित्यिक चित्र कैमरे द्वारा लिया गया चित्र नहीं होता है। बल्कि वह साहित्यकार की लेखनी द्वारा चित्रित किया गया एक ऐसा चित्र होता है, जिसमें साहित्यकार के अनुभव एवं कल्पना के सुंदर रंग ढ़ले होते हैं। संक्षिप्त रूप में हम कह सकते हैं कि सामाजिक विषमताओं, भ्रष्टाचारों तथा वैयक्तिक स्वार्थ से आक्रांत, पीड़ित सामाज की दयनीय परिस्थितियों को उसके वास्तविक रूप में समाज के सामने प्रस्तुत करना, सामाजिक यथार्थवाद का प्रधान लक्ष्य है।''[5]

''समाज में एक ओर जहाँ स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, क्षुद्रता, मलिनता, कामुकता, विपन्नता, दयनीय जीवन स्थितियाँ, सामाजिक और आर्थिक वैषम्य, अंधसंस्कार, कुरीतियाँ आदि हैं तो वही दूसरी ओर स्नेह, सहानुभूति, करूणा, परोपकार, स्वार्थ त्याग आदि सदगुण भी हैं। अतः इन विविध परिस्थितियों को प्रस्तुत करना या अभिव्यक्त करना, सामाजिक यथार्थवाद है।''[6]

समाज में पायी जाने वाली स्वच्छन्द प्रेम–प्रवृति का चित्रण हो या फिर मजदूर वर्ग का शोषण का चित्रण हो, सामाजिक यथार्थ की परिभाषा के अंदर ही समाहित हैं। इतना ही नहीं सामाजिक यथार्थ का चित्र अंकित करने वाले रचनाकर अपनी रचना में मानव के रागात्मक संबंध की व्यंजना भी करते हैं। चूकिं साहित्य का प्रयोजन किसी भी सच्चाई का वास्तविक तौर पर चित्रण करना होता है। अतः सामाजिक यथार्थ साहित्य में अभिरूचि पैदा करने के साथ ही उसके इस प्रयोजन को पूरा करने में काफी हद तक सक्षम है।

जबकि समाजवादी यथार्थवाद बीसवीं शताब्दी की उपलब्धि है। ''समाजवादी यथार्थ का आग्रह है कि साहित्य का संबंध ठोस और व्यवाहारिक सत्य से होना चाहिए, न कि कल्पना और आदर्श से। बाजक, प्लायवेयर और जोला द्वारा चलाए गए यथार्थवादी आन्दोलन के विकासक्रम में ही इसका अभ्युदय हुआ।''[7] प्लेखानोव ने अपनी पुस्तक 'आर्ट एण्ड सोशल लाईफ' में यथार्थ के संदर्भ में कहा है कि–''सामाजिक यथार्थवाद की सबसे महत्वपूर्ण धारणा है 'कला की सौद्देश्यता'। साहित्य और कला का उद्देश्य मानवीय चेतना का विकास करना और समाज व्यवस्था को सुधारना है।''[8]

समाजवादी यथार्थवाद ने 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के सिद्धांत को ग्रहण करते हुए माना है कि समाज की प्रगति दो विरोधी तत्वों के संघर्ष से होती है। इसी सिद्धांत को कार्ल मार्क्स और लेनिन ने भी स्वीकारा है। डॉ0 सत्येन्द्र जी ने अपने निबंध निलय में 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत को विस्तार से समझाते हुए कहा है कि – ''समाज की जो स्थिर अवस्था है वह वाद (थीसीस) है। जब इस स्थिर अवस्था के विरोधी उपकरण प्रकट रूप से वाद का विरोध करने लगते हैं, तो उस अवस्था को प्रतिवाद (एंटीथीसीस) और इन दोनों में संघर्ष से एक तीसरी अवस्था का जन्म होता है, उसे संवाद (सिथीसीस) कहते हैं। वाद, प्रतिवाद और संवाद, ये परिवर्तन के लिए कारणीभूत वृहतत्रयी है। प्रगति की इसी प्रक्रिया को 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' कहते है। समाजवादी यथार्थ, परिवर्तन के इस सिद्धांत को पूर्णरूपेण ग्रहण करता है।''[9]

समाजवादी यथार्थवाद इस बात को मूलाधार मानता है कि हमेशा जीवन में संघर्ष हैं और भविष्य में भी चलेगा। डा0 शिवकरण सिंह अपनी 'आलोचना के आधुनिकवाद और नयी समीक्षा' के माध्यम से ब्रेख्त के समाजवादी यथार्थवाद संबंधी मन्तव्य को रखते हुए कहते हैं कि ब्रेख्त का मानना है कि–''समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धांत को ध्यान में रखकर रची गई कला, समाज के विकास के द्वन्द्वात्मक स्वरूप पर

प्रकाश डालती है। इससे समाज को अपने भविष्य के निर्माण में सहायता मिलती है।''[10] सामाजवादी यथार्थ, अति काल्पनिक एवं श्रृंगारिक बातों की जगह मानवीय और क्रांतिकारी मूल्यों को अपनाता है।

समाजवादी यथार्थवाद के संबंध में स्मिता चाक्को लिखती हैं कि – ''समाजवादी यथार्थवाद आशावादी होता है। प्रतिकूल परिस्थिति में भी वैयक्तिक और सामाजिक विकास का अवसर देखता है। इसमें व्यक्ति से अधिक महत्व समाज को दिया जाता है। सामाजिक यथार्थवाद ऐतिहासिक दृष्टि से सामज की ह्रासोन्मुख एवं विकासोन्मुख विशेषताओं का विवेचन करके उनका अध्ययन करता है।''[11]

निष्कर्ष :

जिस प्रकार साहित्य के निर्माण में समाज का सर्वाधिक हाथ रहता है, उसी प्रकार समाज के निर्माण में साहित्य का भी योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। समाज को एक सही दिशा प्रदान करने में अथवा समाज का पथ–प्रदर्शन करने में साहित्य का बड़ा रहता है, क्योंकि साहित्य ही समाज के भ्रमित मानवों को जीवन के महत्व की शिक्षा देता है, साहित्य ही उन्हें जीवन–यापन के विविध ढंग सिखाता है, साहित्य ही उन्हें व्यावहारिक ज्ञान का उपदेश देता है, साहित्य ही उन्हें विविध प्रकार की मनोवृत्तियों से परिचय कराता है, साहित्य ही उन्हें विविध भावों की जानकारी प्रदान करता है, साहित्य ही उन्हें जीवन–मूल्यों से अवगत कराता है, साहित्य ही उन्हें परम्परागत विचारों का परिचत देता है, साहित्य ही उन्हें अतीत जीवन की सफलता एवं विफलता से अवगत कराकर भविष्य का मार्ग प्रशस्त करता है, साहित्य ही उन्हें वर्त्तमान जीवन की उन्नति एवं अवनति का प्ररिचय देकर उनकी प्रगति का मार्ग खोल देता है और साहित्य ही उन्हें निर्दिष्ट उद्देश्य–पूर्ति के योग्य बनाने के लिए उनके पथ की बाधाओं, रूकावटों एवं विघ्नों का स्पष्ट रूप प्रस्तुत किया करता है। साहित्य का एकमात्र लक्ष्य जीवन की व्याख्या करता है। साहित्य समाज की प्रज्ञा है, वह समाज को सत्–असत् पदार्थों से अवगत कराता हुआ उसे विवेक–वुद्धि प्रदान करता है, जिससे समाज प्रेय–पथा का अनुगामी न होकर सदैव श्रेय–पथ की ओर अग्रसर होने में अपनी रूचि प्रदर्शित करता रहे और माया के प्रपंचों से मुक्त होकर परमधाम को प्राप्त करने में सर्वथा समर्थ हो। इस प्रकार समाज के विकास में साहित्य का योगदान अत्यन्त महत्त्व रखता है। वहीं, साहित्य में सामाजिक यथार्थ समाज जैसा भी है, उसके वैसे ही चित्रण पर बल देता है। जबकि समाजवादी यथार्थ कल्पना और आदर्श से परे ठोस और व्यावहारिक सत्य को ग्रहण करने तथा मनोवैज्ञानिक यथार्थ अचेतन मन में दमित भावनाओं एवं मन में चलने वाले द्वन्द्वात्मक और रहस्यात्मक अनुभूतियों के यथार्थ चित्रण पर बल देता है।

इस प्रकार साहित्य, समाज और समाजिक यथार्थ का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित हो जाती है। इसी कारण यदि समाज वृक्ष है, साहित्य उसका फल है तो समाजिक यथार्थ उसकी प्राण है; यदि समाज शरीर है, साहित्य उसका नेत्र है तो समाजिक यथार्थ उसकी हृदय है, यदि समाज बादल है, साहित्य जल है तो समाजिक यथार्थ उसकी गर्जना है, यदि समाज उत्तर हिमालय है, साहित्य उससे निःसृत सुरसरि है तो समाजिक यथार्थ उसकी कलकलता है, यदि समाज पुष्पोद्यान है, साहित्य उसकी सुरभि है तो समाजिक यथार्थ उसकी सुगन्ध है, यदि समाज बसंत है, साहित्य वासन्तिक छटा है तो समाजिक यथार्थ उसकी प्रकृति है और यदि समाज बिम्ब है, साहित्य उसका प्रतिबिम्ब है तो समाजिक यथार्थ उसका दर्पण है। वहीं समाजिक यथार्थ और समाजवादी यथार्थवाद वस्तुगत यथार्थ को उसकी सारी सजीवता, सच्चाई तथा तीव्रता में चित्रित करने का आग्रह करता है तथा इस बात पर भी जोर देता है कि यथार्थ का चित्र उसकी संपूर्ण भूमिका में उभरना चाहिए। यथार्थवादी लेखक को केवल ऊपरी सतह का ही वर्णन नही करके सतह के नीचे की गहरी भूमिका को भी संप्रेषित करना चाहिए।

साहित्य, समाज और समाजिक यथार्थ का यह अभेद सम्बन्ध आदि–काल से ही चला आ रहा है। इसी सम्बन्ध के कारण साहित्य से किसी समाज की वस्तु स्थिति का बोध होता है और समाज एवं उसके यथार्थ से साहित्य परस्पर सम्बद्ध होकर कार्य करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. डॉ. सीता राम मिश्रा, समाज पर साहित्य का प्रभाव, *www.lsrj.in*, प्र0सं0 2016, पृष्ठ सं0 1–3
2. कुरूक्षेत्र– अगस्त– 2014
3. डा0 कैलाश त्रिपाठी, साहित्य और राष्ट्रबोध– पृ. सं0 76
4. सं0 मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव, ज्ञान शब्द कोश, प्र0सं0–2011 वि0, पृष्ठ सं0 664
5. डा0 त्रिभुवन सिंह, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, प्र0सं0वि0 2022, पृष्ठ सं0 231
6. स्मिता चाक्कों, शोधग्रंथ–मालती जोशी के कथा साहित्य में समाजिक यथार्थ , प्र0सं0 2014, पृष्ठ सं0 13
7. स्मिता चाक्कों, शोधग्रंथ–मालती जोशी के कथा साहित्य में सामाजिक यथार्थ, प्र0सं0 2014, पृष्ठ सं0 8,9
8. प्लेखानोव, आर्ट एण्ड सोशल लाईफ, 1995, पृष्ठ सं0 146
9. सं0 डा0 सत्येन्द्र , निबंध निलय, प्र0सं0 1993, पृष्ठ सं0 170
10. डा0 शिवकरण सिंह, आलोचना के आधुनिकवाद और नयी समीक्षा, सं0 1996, पृष्ठ सं0 95
11. स्मिता चाक्को, मालती जोशी के कथा साहित्य में सामाजिक यथार्थ (शोधग्रंथ), सं0प्र0 2014, पृष्ठ सं0 9